मध्य-युगीन भक्ति-आन्दोलन में सिखों का योगदान

[illegible]

१९७०

मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन में संतों का योग-दान

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

पद्मभूषण डा० रामकुमार वर्मा

(रिसर्च प्रोफ़ेसर यू० जी० सी०)

प्रस्तुतकर्त्ता

रामरूप शुक्ल

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

भूमिका

भूमिका

एम०ए० उत्तीर्ण करने के उपरान्त मेरी स्वाभाविक श्रद्धा उन सन्तोंके प्रति रही है, जिन्होंने विषम परिस्थितियों में भी भारतीय-संस्कृति की संरक्षा करने का प्रयत्न किया है । समाज और राजनीति की रूढ़ियों से ग्रस्त न होकर उन्होंने भारतीय विचार-धारा में जो मौलिक योगदान दिया है, वह भारतीय इतिहास में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है । भारतीय संस्कृति में आस्था रखने के कारण ही मैंने यह विषय अपने शोध के लिए चुना । यह इसलिए भी संभव हो सका कि सन्त साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् मेरे आचार्य पद्मभूषण डा०रामकुमार वर्मा का सान्निध्य मुझे सहज ही प्राप्त हो सकता था । तीन वर्षों के निरन्तर अध्यवसाय के अनन्तर मैंने अपने शोध की निर्धारित दिशाओं में जो कार्य किया है, वह शोध प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत है ।

सन्तों की विचार-सम्पत्ति किसी एक स्थान पर संचित नहीं है । वह रत्न-कणों की भाँति देश के विभिन्न स्थानों में बिखरी हुई है । उसके संचयन हेतु मैंने सन्तों के विभिन्न मठों का परिभ्रमण किया । मध्य प्रदेश में स्थित गोविन्द गढ़, दामा-खेड़ा तथा कबधी आदि मठों पर जाकर सन्तों के मौलिक आत्म-चिन्तन को दृष्टिकोण में रखकर सामग्री का संचयन किया ।

इसके अतिरिक्त संत-साहित्य के मर्मज्ञ, मौलिक-चिन्तक डाक्टर रामकुमार वर्मा के सुझावों से सन्त साहित्य के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की भ्रान्तियों का निराकरण कर, विभिन्न गूढ़ गुत्थियों को सुलझाकर मैंने नवीन ढंग से ज्ञान और योग के आधार पर सन्तों की भक्ति का मूल्यांकन किया तथा

तत्सम्बन्धी उपलब्धियों का निदर्शन किया ।

इसके साथ ही साथ विभिन्न पुस्तकालयों में जाकर विषय के अनुकूल जिन सहायक पुस्तकों से सामग्री प्राप्त हो सकती थी, उनका भी उपयोग किया । काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पब्लिक लाइब्रेरी इलाहाबाद, युनिवर्सिटी पुस्तकालय तथा अन्य विभिन्न पुस्तकालय विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं । इनके अधिकारियों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं ।

आचार्य प्रपुदत्त शास्त्री, आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी, पं० परशुराम जी चतुर्वेदी तथा अन्य साहित्यक-मनीषियों के प्रति भी कृतज्ञ हूं, जिनके ग्रन्थों से मुझे सहायता मिल सका है ।

प्रात: स्मरणीय परमपूज्य पिता पं० शिवशंकर शुक्ल 'ज्योतिषी', जिन्होंने शोध की दिशा इंगित की, जिनके 'मौन-दाश्वान' को सम्बल बनाकर मैंने शोधकार्य प्रारम्भ किया और जिनके स्नेहमय आशीर्वाद से यह शोध प्रबन्ध पूर्ण हो सका -- उनके प्रति शब्दों द्वारा कृतज्ञता ज्ञापित नहीं की जा सकता ।

शोधप्रबन्ध को प्रस्तुत करने में मुझे अपने परम पूज्य आचार्य डा० रामकुमार वर्मा की अलभ्य चिन्तन-निधि सहज ही प्राप्त हो गई, क्योंकि प्रस्तुत प्रबन्ध उन्हीं के निर्देशन में सम्पन्न किया गया है । यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि 'यदि उनका मार्ग निर्देशन मुझे न प्राप्त हुआ होता तो यह प्रबन्ध वर्तमान रूप में प्रस्तुत नहीं हो सकता था । अपने आचार्य के प्रति मैं श्रद्धावनत हूं ।

अन्त में हिन्दी टंकक श्री रामहित जी त्रिपाठी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने प्रस्तुत प्रबन्ध को सुव्यवस्थित रूप से यथाशीघ्र टंकित किया है ।

'संकेत'
इलाहाबाद
महाशिवरात्रि
(६ मार्च, सन् १९७०ई०)

(रामरूप शुक्ल)

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय		पृष्ठसंख्या
विषय-प्रवेश		७-२२
(क) देश की सांस्कृतिक परम्परा में धर्म और दर्शन का रूप	८	
१-परम्परा	९-१०	
२- धर्म	१०-१२	
३- दर्शन	१२-१४	
४- धर्म और दर्शन में समन्वय और उससे परम्परा की पुष्टि	१४-१५	
(ख) मध्ययुगीन वातावरण	१५-१९	
१- राजनीतिक	१५-१६	
२- सामाजिक	१६-१८	
३- धार्मिक	१८-१९	
(ग) दक्षिण और उत्तर की विचारधारा का समन्वय	१९-२०	
(घ) शोधगत दृष्टिकोण और सामग्री-संचयन	२१-२२	
अध्याय --१ : भक्ति का रूप		२३-४९
(क) प्राचीन साहित्य में भक्ति का निर्देश	२९-३९	
(ख) धर्म की व्यवस्था में भक्ति	४०-४२	
(ग) भक्ति के आवश्यक तत्त्व	४३-४७	
१- शाण्डिल्य भक्तिसूत्र		
२- नारद भक्ति सूत्र		
(घ) मनोभाव एवं आचार	४८-४९	

विषय		पृष्ठ संख्या
अध्याय --२ : भक्ति सम्बन्धी आन्दोलन		५०-११०
(क) आलवार	६१-७७	
(ख) आचार्यों का कार्य	७८-९०	
(ग) संघर्षों की स्थिति	९१-१०८	
(घ) दक्षिण से उत्तर के अभियान में भक्ति सम्प्रदाय में संशोधन ।	१०९-११०	
अध्याय -- ३ : भक्ति एवं योग		१११-१३७
(क) दोनों की सापेक्ष स्थिति	११७-१२५	
(ख) नाथ सम्प्रदाय की परम्परा तथा गोरख की भक्ति एवं योग ।	१२५-१३४	
(ग) जनता की प्रवृत्ति	१३५-१३७	
अध्याय -- ४ : संतों द्वारा भक्ति-प्रतिपादन		१३८-१६५
कबीर	१३९-१४८	
नानक	१४९-१५२	
दादू	१५३-१५६	
सुन्दरदास	१५६-१५९	
(क) परम्परा एवं प्रयोग(रहस्यवाद)	१६०-१६५	
अध्याय --५ : सन्तों द्वारा प्रतिपादित भक्ति में ब्रह्म		१६६-१८४
अध्याय --६ : सन्तों का माया-निरूपण		१८५-२००
अध्याय --७ : संतों की दृष्टि में जीव और जगत		२०१-२१६

विषय		पृष्ठ संख्या
अध्याय -- ८ : सन्तों की साधना		२१६ -२२८
भक्ति के रूप	२२१-२२८	
(१) माधुरी भक्ति		
(२) दास्य भक्ति		
अध्याय -- ९ : सन्तो के भक्ति-निरूपण में काव्य-सौन्दर्य		२२९ -२६५
(१) रस	२३१-२३७	
(२) प्रतीक, रूपक, उलटबाँसियाँ	२३७-२५९	
(३) छन्द और भाषा	२५९-२६५	
निष्कर्ष एवं उपसंहार		२६६-२७०
परिशिष्ट		२७१-२८०
(क) भक्ति के विविध रूपों का तुलनात्मक रेखा-चित्र	२७२	
(ख) भक्ति काव्य के कुछ उदाहरण	२७३	
(ग) पुस्तक-सूची	२७४-२८०	

विषय- प्रवेश

(क) देश की सांस्कृतिक परम्परा में धर्म और दर्शन का रूप --

(१) परम्परा

(२) धर्म

(३) दर्शन

(४) धर्म और दर्शन में समन्वय और उससे परम्परा की पुष्टि ।

(ख) मध्ययुगीन वातावरण --

(१) राजनीतिक

(२) सामाजिक

(३) धार्मिक

(ग) दक्षिण और उत्तर की विचारधारा का समन्वय ।

(घ) शोधगत दृष्टिकोण और सामग्री- संचयन ।

-०-

विषय-प्रवेश

(क) देश की सांस्कृतिक परम्परा में धर्म और दर्शन का रूप

इस देश की सांस्कृतिक परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । शताब्दियों से धर्म और दर्शन ने उसे परिपुष्ट किया है । परिणाम यह हुआ है कि उसके द्वारा मानव के जीवनगत मूल्य न केवल लौकिक दृष्टि से समृद्धिशाली हुए हैं, अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से भी मानव को जीवन के लक्ष्य के प्रति जागरूक बना सके हैं । संस्कृति वास्तव में मानव की शताब्दियों की साधना का परिणाम है ।

'संस्कृति' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत धातु 'संस्कृ' में 'क्तिन' प्रत्यय लगाने से हुई है । आप्टे ने अपने 'संस्कृत शब्द कोष' में 'संस्कृ' धातु का अर्थ--सजाना, संवारना,सुशिक्षित करना, पवित्र करना,मांजना आदि दिया है । इस प्रकार 'संस्कृति' का अर्थ -- मांजी हुई, संवारी हुई, सुधरी हुई स्थिति से है । तात्पर्य यह कि संस्कृति मानव जीवन की वह स्थिति है, जो उसके आचार-विचार एवं क्रिया-कलापों में पवित्रता एवं शुद्धीकरण का वातावरण उपस्थित कर दे ।

'नृ-विज्ञान' में संस्कृति का अर्थ 'समस्त सीखा हुआ व्यवहार' है, अर्थात् समाज की इकाई होने के कारण वे सम्पूर्ण बातें जो हम सीखते हैं-- संस्कृति है । वस्तुत: संस्कृति उन गुणों का समुदाय है, जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है । संस्कृति का सम्बन्ध मुख्यत: मनुष्य की बुद्धि,स्वभाव, मनोवृत्तियों (एटीट्यूड्स) से है ।[१] इस प्रकार 'संस्कृति' शब्द को हम परम्परा का पर्याय मान सकते हैं । अब हम परम्परा,धर्म तथा दर्शन को अलग-अलग रूपों में देखेंगे --

---

१- डा० देवराज -- 'भारतीय संस्कृति', पृ० २१

(१) परम्परा

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के अनुसार 'परात्परं गच्छन्ती प्रक्रिया' परम्परा है[१]। यह निर्मित प्रचलन पर आधृत है। पाणिनि ने परम्परा या पारम्पर्य का अर्थ पुत्र-पौत्रादिक वंश सातत्य माना है।

श्री वी०एस०आप्टे ने 'परं पिपर्ति इति परम्परा' कहा है। आप्टे जी ने परं पूर्वक 'पृ' पूरणे धातु से 'अच्' प्रत्यय एवं अलुक् समास द्वारा परम्परा को व्युत्पन्न किया है। उनके अनुसार परम्परा का अर्थ-- एक नियत-क्रम, एक पंक्ति, रेखा, व्यवस्था तथा उचित संयोजन है।

व्यास ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' में 'परम्परा' शब्द का प्रयोग निम्न रूप में किया है -- 'एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः'[२] -- अर्थात् परम्परा का अर्थ पूर्व महापुरुषों से विधिवत् प्राप्त है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी के मनीषियों ने भी 'परम्परा' का सुन्दर विवेचन किया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'परम्परा' के विषय में कहा है -- 'कोई भी देश अपनी साहित्यिक परम्परा से नाता नहीं तोड़ सकता। अतीत का प्रभाव वर्तमान पर पड़ता ही है। इसके साथ ही उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय परम्परा बहुत पुरानी है। पुरानी ही नहीं, वह अतिशय समृद्ध है। ऐसी स्थिति में यह सम्भव नहीं है कि हम अपनी सारी विरासत को छोड़कर दूसरे देशों के साहित्यों का छिछला अनुकरण करने लगें[३]।' यहां परम्परा पूर्वजों से प्राप्त विरासत का रूप प्रदर्शित करती है।

डा० रामकुमार वर्मा ने परम्पराओं का बड़ा ही विशद् विवेचन किया है -- 'ये हमारे सामने भारतीय संस्कृति का अनुपम चित्र उपस्थित

१- पाणिनि : अष्टाध्यायी -- ५।२।१०

२- श्रीमद्भगवद्गीता-- १-२-४ (तिलक प्रकाशन)।

३- नन्ददुलारे वाजपेयी --'नया साहित्य : नए प्रश्न', पृ०१२८

करती हैं ..... हमारी परम्पराएं जीवन की कितनी गहराई से उठती हैं और उनके निर्माण में कितनी जातीयता संगठन की भावना है[1]। यहां परम्परा के रहस्य को जातीय संस्कृति से उसकी गम्भीर एकता में खोजा गया है।

डा० सत्येन्द्र ने परम्परा का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए कहा है --' प्रयोग जब बहुग्राह्य हो उठता है और कालक्रम में दीर्घ इतिहास खड़ा कर लेता है तो वही परम्पराबद्ध हो जाता है।' वे कहते हैं,--'प्रयोग और परम्परा में वही अन्तर है जो 'बिन्दु' और 'रेखा' में है। बिन्दु एक प्रकार से प्रयोग है, परम्परा रेखा है। यद्यपि यह सत्य है कि एक बिन्दु की परम्परा ही रेखा है, फिर भी यह स्पष्ट है कि 'रेखा' प्रवृत्ति और प्रकृति में 'बिन्दु' से पूर्णत: भिन्न होती है, केवल तत्वत: वे समान हैं[2]।'

इस प्रकार परम्परा का अर्थ-विश्लेषण करते हुए सन्दर्भ-ग्रंथों एवं समर्थ विचारकों ने विभिन्न तत्वों पर बल दिया है, निष्कर्षत: वे निम्नप्रकार हैं :-

(अ) परम्परा का पुरातन से वर्तमान में संक्रमण होता है।

(आ) परम्परा विकसनशील है, स्थिर नहीं।

(इ) परम्परा नियमों, रीतियों, संस्कारों, आदर्शों तथा गतानुगतिक विषयों के पोषण की मूल प्रेरणा है।

(ई) परम्परा सांस्कृतिक-दाय के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलती है।

(उ) परम्परा अफल प्रयोगों की परिणति है, जो मान्यता तथा आस्था द्वारा पोषित होती है।

इसके साथ ही साथ धर्म एवं दर्शन के समन्वय से 'परम्परा' की पुष्टि होती है। अत: धर्म और दर्शन का विवेचन आवश्यक है।

(२) धर्म

'धर्म' की उत्पत्ति 'धृ' + मन से हुई है। 'धरति धारयतीति धर्म:'

१-डा० रामकुमार वर्मा --'साहित्यशास्त्र', पृ० १०२(प्रथम संस्करण)
२-डा० सत्येन्द्र --'परम्परा तथा प्रयोग का दर्शन'

जो संसार रूप में कहे जाते को पकड़ता है, वह धर्म है । श्रुति, स्मृति में कहा गया कर्म, धर्म है । महाभारत में भगवान् व्यासदेव ने धर्म को परिभाषित करते हुए कहा है :-

'धारणाद्धर्ममित्याहु: धर्मो धारयते प्रजा: ।
यस्माद् धारणसंयुक्तं स धर्म: इति निश्चय:।।'[1]

धारण करना ही धर्म है । धर्म प्रजाओं के द्वारा धारण किया जाता है तथा धर्म के द्वारा ही प्रजा एक सूत्र में निबद्ध है ।

'धर्म मानव जाति के एक विशेष प्रकार के अनुभवों की अभिव्यक्ति है । धार्मिक विचार, काल्पनिक चित्रों से ऊपर उठकर अभिव्यक्ति को सच्चाई में विकसित होते हैं । धर्म, मानव-प्रकृति द्वारा ईश्वर के अनुसंधान की प्रक्रिया है । धर्म, किसी ऐसी वस्तु का दृष्टि है जो जीवन के उस ओर है, पार्श्व में है, आत्मा में है और आवश्यक वस्तुओं के प्रवाह में है, ऐसी वस्तु जो सत्य है, फिर भी ज्ञात होने की प्रतीक्षा में है, ऐसी वस्तु जो दुरातीत सम्भावना है फिर भी महत्तम वर्तमान सत्य है, ऐसी वस्तु जो सभी घटनाओं को अर्थ प्रदान करता है फिर भी जिसका अर्थ नहीं निकलता, ऐसी वस्तु जिसकी प्राप्ति आखिरी अच्छाई है फिर भी जो पहुंच के परे है ।'[2]

सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के कथनानुसार --' धर्म एक तरह का जीवन और अनुभव है । वह दर्शन और अनुभव की वस्तु है । यह अनुभूति किसी प्रकार का भावावेग या अपने मन की कल्पना नहीं है, बल्कि पूरे व्यक्तित्व का, अखण्डित चैतन्य का केन्द्रीय सत्ता के प्रति उन्मुखी भाव है । धार्मिक अनुभूति स्वत: प्रमाण है लेकिन धार्मिक द्रष्टाओं को अपने आन्तरिक विश्वासों को इस तरह प्रमाणित करना पड़ता है कि वे विश्वास, युग की विचारधारा को सन्तुष्ट कर सकें। अगर बौद्धिक समर्थन न रहे तो ऋषियों का अनुभव केवल विश्वास तक सीमित रहेगा । इस माने में धर्म विश्वास पर आधारित है ।'[3] डा० देवराज के अनुसार --'धार्मिक

१-महाभारत : वनपर्व ६६।५६
२-ज्ञानोदय--(अप्रैल १९५६) प्रो० ह्वाइटहेड -- धर्म और विज्ञान का संघर्ष से अवतरित।
३-सर्वपल्ली राधाकृष्णन्--'हिन्दुओं का जीवन दर्शन' :अनुवादक कृष्ण किंकर सिंह, पृ०१३ ।

अथवा अध्यात्मिक अनुभूति मूलत: एक रहस्यपूर्ण परिणति,लक्ष्य अथवा सत्ता की प्रतीति है जो जीवन के समस्त मूल्यों का मूल या आधार समझी जाती है । जिसे हम धार्मिक या अध्यात्मिक जीवन कहते हैं वह, वह जीवन है जो उक्त लक्ष्य तथा सत्ता की सापेक्षता में जिया जाता है[1]।"

उपर्युक्त धार्मिक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म के स्थूल रूप से दो भाग होते हैं, वे हैं-- यम और नियम । धर्म का यम भाग,नियम की अपेक्षा अधिक स्थायी,व्यापक एवं उदार है । धर्म का यम रूप अपरिवर्तनीय किन्तु नियम ~~किन्तु नियम~~ रूप परिवर्तनीय है । यम के अन्तर्गत सत्य, अहिंसा,संयम, दया, प्रेम, परोपकार तथा ब्रह्मचर्य आदि एवं नियम के अन्तर्गत सन्ध्या करना ~~करना~~, स्नान करना, खाना-पीना,जनेऊ पहिनना, गन्ध लगाना, तथा हजामत बनाना आदि बातें आती हैं । तात्पर्य यह कि एक का सम्बन्ध अन्तर पक्ष तथा दूसरे का सम्बन्ध वाह्य पक्ष से है ।

'मानुषेर- धर्म' में कहा गया है -- मनुष्य अपनी उन्नति के साथ-साथ व्यक्ति सीमा को पार कर वृहत् मनुष्य हो उठता है । उसकी समस्त श्रेष्ठ साधना इसी वृहत् मनुष्य की साधना है । यही वृहत् मनुष्य अन्तर का मनुष्य है । बाहर नाना देशों का नाना समाजों का नाना जातियां हैं,किन्तु अन्तर में केवल एक मानव है जो हमें त्याग की ओर तपस्या की ओर ले जाता है उसी को मनुष्यत्व-- मनुष्य का धर्म कहते हैं[2]।"

यद्यपि समाज में भिन्न-भिन्न धर्म प्रचलित हैं,किन्तु उनका लक्ष्य एक ही है । वे एक ही स्थल पर पहुंचने के विविध सोपान हैं । वस्तुत: यह धर्म, दर्शन और अनुभव की वस्तु है ।

(३) दर्शन

'दर्शन' शब्द दृश + ल्युट (अन) से बना है । इसका अर्थ है--

१-. डा० देवराज -- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन,पृ०३२३

२- श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर-- मानुषेर धर्म : अनुवादक - रघुराज गुप्त,पृ० १

जिससे देखते हैं वह दर्शन है । 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' के आधार पर वस्तु के सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप की सम्यक् जानकारी ही दर्शन है । किसी वस्तु के वास्तविक रहस्य को समझने के लिये हमारे मन में जो तर्क-वितर्क उत्पन्न होते हैं, जो उत्कण्ठा का भाव जागृत होता है तथा उस वस्तु को पहचानने की जिज्ञासा आदि का सम्यक् निराकरण दर्शन द्वारा ही होता है । जर्मन दार्शनिक हीगेल के अनुसार 'दर्शन ज्ञान की यात्रा, बुद्धि का विकास और विचारधारा की प्रगति है ।' अंग्रेज दार्शनिक ब्रेडले के अनुसार --'दर्शन मिथ्या को छोड़कर सत्य की खोज करता है,' द्वैत में सूत्रात्मक अद्वैत का पता लगाता है । अनेक में एक और असत् में सत् का अन्वेषण करता है ।'

दर्शन के अन्तर्गत आन्तरिक जीवन की सृष्टि करने वाली क्रियाएं आती हैं, दृश्यमान जगत का निर्माण करने वाली क्रियाएं नहीं । इसीलिए भारतीय दर्शन में इसे 'आत्मानं विद्धि' अर्थात् आत्म-ज्ञान की संज्ञा से अभिहित किया गया है । 'तत्व की व्याख्या करने में यहां के दार्शनिकों ने अनुभवगम्य विषय की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना अनुभवकर्ता विषयी की ओर । शुष्क तार्किक युक्तियों के सहारे आत्मा का ज्ञान परोक्ष न होकर अपरोक्ष होना चाहिए ।'[1] दार्शनिक वक्तव्यों का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक जगत् से होने के कारण उन्हें बाह्य अनुभूतियों से प्रमाणित अथवा अप्रमाणित नहीं किया जा सकता ।

दर्शन एक प्रकार से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अथवा समस्त अनुभव-जगत् को एक साथ देखने का प्रयत्न करता है । वह अस्तित्व अथवा सत्ता के ऐसे रूप की खोज करता रहा है, जिसे अनन्त मूल्यों का अधिष्ठान माना जा सके । दर्शन उस आन्तरिक बेचैनी की अभिव्यक्ति है जो एक उच्चकोटि के मस्तिष्क और सशक्त कल्पना में निहित होती है, उन आत्माओं में जो अपने को विश्व की समग्रता से सम्बन्धित करना चाहती हैं । 'दर्शन हमारे सामने अणु तथा विराट जगत् के असंख्य रूपों को उपस्थित करता है, जीवन की अनगिनत सम्भावनाओं एवं दृष्टियों की

१- पं० बलदेव उपाध्याय --'भारतीय दर्शन', पृ०१६

उद्भावना करता है और जीवन तथा जगत् के असंख्य सम्बन्धों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है । इस प्रकार दर्शन हमें जीवन की क्षुद्र स्थितियों से ऊपर उठाकर विश्व-ब्रह्माण्ड की हलचल के केन्द्र में स्थापित कर देता है ।..... दर्शन हममें जो चेतना उत्पन्न करता है वह जीवन को उच्चतम कोटि की तृप्ति देती है ।[1]

(४) धर्म और दर्शन में समन्वय और उससे परम्परा की पुष्टि

धर्म तथा दर्शन-- दोनों एक-दूसरे के परिपूरक हैं । पण्डित बलदेव उपाध्याय के शब्दों में-- 'दर्शन शास्त्र के द्वारा सुचिन्तित अध्यात्मिक तत्ववाद के ऊपर ही भारतीय धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा है । बिना धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है ।'[2] धर्म और दर्शन, जीवन और विचार, व्यवहार और सिद्धान्त-- ये सब आत्मा के शाश्वत छन्द हैं । हम लोग जीवन से उठकर विचार पर पहुंचते हैं और विचार से पुनः जीवन पर लौट आते हैं । यह ऐसी क्रमिक समृद्धि है जो परम सत्ता के सतत् ऊर्ध्वगामी धरातलों तक पहुंचाती रहती है ।[3] सर हर्बर्ट रिजले के अनुसार -- भारतीय दर्शन, वैयक्तिक चेतना के सांस्कृतिक अथवा अध्यात्मिक परिष्कार की ओर विशेष जागरूक रहा है, मानव-जीवन की भौतिक समृद्धियों में सुधार करने की ओर इसने विशेष रुचि नहीं दिखलाई । यदि दर्शनशास्त्री समाज-व्यवस्था में रुचि दिखलाते हैं तो इसलिए कि व्यक्ति की अध्यात्मिक प्रगति के लिए उपयुक्त परिस्थितियां प्रस्तुत कर दी जायं । धर्म मूलक व्यवहार को गौरव देने का कारण स्वार्थवृत्तियों के उन्मूलन तथा निम्न प्रवृत्तियों के शोधन द्वारा आत्म-शुद्धि करना है । एक सामान्य बुद्धिमान हिन्दू गृहस्थ भी परमात्मा, प्रारब्ध, माया, मुक्ति आदि शब्दों से सुपरिचित है और उसने स्थूल रूप से एक व्यावहारिक सिद्धांत गढ़ लिया है कि इन सब का उसके भावी जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा ।[4]

१- डा० देवराज -- 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन', पृ० २७६-२८० ।
२- पण्डित बलदेव उपाध्याय -- 'हिन्दुओं का जीवन-दर्शन', पृ० 'भारतीय दर्शन' तृतीय संस्करण, १९४८, पृ० १२ ।
३- डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन -- 'हिन्दुओं का जीवन-दर्शन', पृ० १९
४- सर हर्बर्ट रिजले -- 'दी पीपुल ऑव इण्डिया' १९१५ ।

इस प्रकार धर्म और दर्शन अन्योन्याश्रित हैं तथा इन दोनों के समन्वय से परम्परा की पुष्टि होती है, क्योंकि ये धर्म और दर्शन, मानव-जीवन के विविध कार्यों, नियमों, रीतियों तथा संस्कारों में समाये हुए हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते रहते हैं, जिससे परम्परा की पुष्टि होती है ।

(ख) मध्य युगीन वातावरण

भारतीय इतिहास में मुस्लिम शासन की स्थापना के पूर्वकाल को इतिहासकारों ने प्राचीनकाल ठहराया है तथा ब्रिटिश शासन की स्थापना के उत्तर-काल को आधुनिक काल की संज्ञा दी है । इन दोनों के बीच का युग मुस्लिम-प्रभुत्व का काल 'मध्य-काल' (मध्य युग) कहा जाता है[१] । इस युग का वातावरण संघर्षमय था । देश में मुस्लिम आतंक छाया हुआ था, जिससे आतंकित होने के कारण जनता में त्राहि-त्राहि मची हुई थी । वह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर धर्म -संकट में पड़ी हुई थी । उस समय के वातावरण को राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक पृष्ठभूमियों में रखा जा सकता है ।

(१) राजनीतिक

राजनीतिक दृष्टिकोण से यह युग अत्यन्त अव्यवस्था एवं सांस्कृतिक द्वन्द्व का था । इस युग के प्रारम्भ में राजनीतिक सत्ता तुगलक वंश के हाथ में थी । मुहम्मद-बिन -तुगलक (सन् १३२५-१३५१ई०) से लेकर इब्राहीम लोदी (सन् १५१८-१५२६ई०) तक सोलह शासक दिल्ली के तख्त पर बैठे, जिनके प्रमुख कार्य आक्रमण तथा युद्ध ही रहे । राज्य-लिप्सा में पड़कर ये शासक निरन्तर युद्ध ही करते रहे, जिससे क्षुब्ध होकर जनता में घोर असन्तोष छा गया । इस समय की राजनीति -

---

१- डा० अवधविहारी पाण्डेय --'पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास', पृ०३

पतनोन्मुख हो रही थी, जिसका कारण यह था कि वह पवित्रता तथा सत्य से बहुत दूर होकर, कूटनीति, हिंसा, तथा छल-छद्म पर ही आधारित थी । परिणामत: ऐसे शासकों के प्रति, जिनका दृष्टिकोण ही छल-दम्भ-मय था, जनता की कोई भी सहानुभूति नहीं रह गई थी और वह 'कोउ नृप होउ' की मनोवृत्ति से राजनीति के प्रति उदासीन हो गई थी ।

इस प्रकार इन सोलह-शासकों ने दो सौ वर्षों का समय शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के स्थान पर धर्मान्ध प्रचार एवं आक्रमणों में नष्ट किया । कराल-दण्ड[१] से भयभीत जनता में हीन भावना की जो ग्रन्थि पड़ गई थी, वह दो सौ वर्षों के बाद भी न सुलझ सकी । तुलसीदास जी की वाणी में विगत शताब्दियों की मूक जनता का आक्रोश मर्मस्पर्शी चीत्कारों में फूट पड़ा है । उससमय अत्याचार तथा अनीति का प्रचार अधिक था । तुलसीदास ने निशाचरों को प्रतीक बनाकर तत्कालीन वातावरण का चित्र उपस्थित किया है --

'बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जे करहिं ।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्हके पापहिं कवनि मिति[२] ।।'

इतना ही नहीं, तत्कालीन शासकों का झुकाव कामुक प्रवृत्ति की ओर भी कुछ कम नहीं था । पठानकाल में कुमारियों को बलपूर्वक अपहरण करने की दुर्नीति का प्रतीक चित्र देखिए --

"देव जच्छ गन्धर्व नर, किन्नर नाग कुमारि ।
बीति बरीं निज बाहुबल, बहु सुन्दर बर नारि[३] ।।'

इस प्रकार इसयुग की राजनीति सुलतानों के रक्त-पिपासु दांव पेचों एवं सामन्तवादी षड्यन्त्रों के नाग-पाश में ही पलती रही ।

(२) सामाजिक

राजनीति और धर्म की प्रयोग-भूमि ही समाज है । राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अव्यवस्थित होने पर समाज के आचरण

१- गौंड गंवार नृपाल महि, यवन महा महिपाल ।
साम न दाम न भेद कहु, केवल दण्ड कराल ।।--तुलसीदास(दोहावली)
२- रामचरितमानस, बालकाण्ड--१८३
३- " " -- १८२(ब)इसी संदर्भ में आईन-ए-अकबरी में अबुलफ़ज़ल ने सम्राट अकबर के हरम का वर्णन किया है।

और व्यवहार में अन्तर आ जाता है । मध्ययुगीन धर्म-प्रेरित राजनीति की अव्यवस्थित छाया में पलने वाली सामाजिक परिस्थिति किस अंश तक अपने सन्तुलन को बनाए रखेगी, यह सहज रूप में ही समझा जा सकता है । मुस्लिम आक्रमण भारतीय समाज-विभाजन में नवीन कड़ियां जोड़ता है । इस युग में समाज दो वर्गों में विभाजित था । पहला था -- राजन्य वर्ग तथा दूसरा था सामान्य वर्ग । यह राजन्य वर्ग ही समाज के सम्पूर्ण कार्य-व्यापारों का नियमन करता था । प्रजा पर शासन करता था तथा उसका शोषण करता था । प्रजा के दुधमुंहे बच्चों के आंसुओं से राजाओं के मुक्ता-हार पिरोये जाते थे । कृत्रिम दर्प एवं खोखले आत्म प्रदर्शन की ऐंठ में वे आपसमें ही लड़-झगड़ रहे थे । इस भोग-लिप्सा के नारकीय संघर्ष की चोटें जन-जीवन को सहनी पड़ रही थीं । प्रजा-पालन का ढोंग आत्म प्रवंचना मात्र था । ये सुलतान तथा हिन्दू राजागण कामुकता के मोह सम्वरण से अपने को बचा न सके । इनके जीवन का सबसे अधिक आकर्षण उद्दाम-यौवन की अमिट बुभुक्षा थी । राजागण प्राय: इसी में अपना सम्मान समझते थे कि दिल्ली के शासकों को कर देकर विलास की वंशी बजाई जाय । इसीलिए विशाल अन्त:पुर का होना उसयुग का अनिवार्य फैशन हो गया था ।

इसके विपरीत सामान्य वर्ग का जीवन अत्यन्त दयनीय तथा दु:खी था,क्योंकि शासकों द्वारा इनका शोषण हो रहा था । आपत्ति के बादल इनके ऊपर सदैव मड़राते रहते थे । शासकों द्वारा पहुंचायी गई चोटों से इनका हृदय विदीर्ण हो जाता था । फिर भी 'बुभुक्षणा किं न करोति पापम्' से प्रभावित ये 'येन केन प्रकारेण' दबी सांस लेते हुए जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति में लगे हुए थे । निर्धनता तथा विपन्नता के कारण यह वर्ग दुर्व्यसनों से मुक्त तथा ईमानदार था, किन्तु उनकी सच्चाई तथा ईमानदारी का उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता था । सब कुछ मिलाकर इस वर्ग की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी ।

इसयुग में विभिन्न वर्ग-भेदों से समाज छिन्न-भिन्न हो रहा था । जाति-बन्धन के कुप्रभाव से समाज खण्ड-खण्ड हो गया था । इसीलिए सन्त कबीर ने जाति-बन्धन की परम्परा को तोड़ने के लिए अभूतपूर्व प्रयत्न किया । इस

समय अनेक सम्प्रदायों में लोग बटे हुए थे, जिनमें पारस्परिक वैमनस्य बढ़ रहा था-- सभी अपने-अपने मद में चूर थे --

पंडित जन माते पढ़ि पुराण ।
जोगी माते जोग धियान ।।
संनिआसी माते अहंमेव ।
तपसी माते तप के भेव ।।
सभ मदमाते कोऊ न जाग ।
संग ही चोर घर मुसन लाग ।।[1]

रागु बसंत २ ।

इस प्रकार मध्य युगीन सामाजिक वातावरण अत्यन्त अव्यवस्थित था । इसीलिए सन्त कबीर ने अनुभूति सम्पन्न सन्त और कवि होते हुए भी समाज-सुधार पर अधिक बल दिया ।

(३) धार्मिक

मध्य युग का प्रारम्भिक काल कट्टर धर्मान्धता का युग था । इस युग में इस्लाम धर्म का प्रचार बढ़ रहा था । मुहम्मद बिन-तुगलक (सन् १३२५-१३५१ई०) से लेकर इब्राहीम लोदी (सन् १५१८-१५२६ई०) तक के सभी शासकों का दृष्टिकोण था -- इस्लाम धर्म का प्रचार एवं प्रसार करना । कट्टर धर्मान्धता के वशीभूत होकर इन शासकों ने नृशंसता, कठोरता तथा निर्दयता का परिचय दिया । मन्दिरों को ध्वस्त कर तथा मूर्तियों को खण्डित कर मस्जिदों का निर्माण कराया । इतना ही नहीं, वरन् उन्होंने हिन्दुओं को कठोर दण्ड देकर हठात् इस्लाम धर्म स्वीकार कराया ।

ऐसी परिस्थिति में जब कि हिन्दू धर्म खतरे में पड़ा हुआ था सन्त कबीर ने ऐसे निर्गुण, निराकार ईश्वर की कल्पना की जिससे हिन्दू धर्म को

१- संत कबीर, पृ० २३१

सुरक्षा हो सकी । इस निर्गुण, निराकार ईश्वर की उपासना के लिए न तो मूर्ति की आवश्यकता थी और न मन्दिर की ही । तात्पर्य यह कि नामरूप-स्मरण और मानसिक-भक्ति के माध्यम से ही हिन्दू धर्म सुरक्षित रह सका ।

कालान्तर में मुस्लिम आतंक के समाप्त हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में बुझती हुई सगुण भक्ति की चिनगारी, प्रज्ज्वलित हो उठी, जिसके परिणामस्वरूप इष्टदेव के रूप में राम तथा कृष्ण का सगुण रूप स्वीकार्य हुआ ।

(ग) दक्षिण और उत्तर की विचार-धारा का समन्वय

मध्य-युग की अनेक घटनाओं ने समष्टिरूप से भक्ति के धार्मिक आन्दोलन को विकसित किया । भक्ति का जन्म तो दक्षिण भारत में हुआ किन्तु कालान्तर में इसका प्रवाह जो दक्षिण से उत्तर तक प्रवाहित हुआ उसने समस्त उत्तरी भारत को धर्म के क्षेत्र में भक्ति के प्रति आकृष्ट किया । यों तो भक्ति की परिकल्पना वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में बहुत पहले हो हो चुकी थी तथापि उसका जनव्यापी आन्दोलन ईसा की छठवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में 'आलवार' गायकों द्वारा हुआ । इन आलवार -वैष्णव-भक्तों की संख्या बारह मानी जाती है जिनमें एक प्रसिद्ध महिला भक्त आण्डाल का भी उल्लेख प्राप्त होता है । इन प्रसिद्ध वैष्णव-भक्तों ने लगभग चार हजार भक्तिपरक मधुर गीतों की रचना की जो 'दिव्य -प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं, जिनसे भक्ति का देशव्यापी प्रचार सम्भव हो सका । किन्तु इसी बीच आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा मायावाद के आधार पर ब्रह्म और जीव को एक सिद्ध किया, जिससे इस वैष्णव भक्ति का स्रोत अवरुद्ध-सा हो गया ।

भक्ति को इस ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति से बचाने के लिए ही ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में नाथ मुनि तथा यामुनाचार्य ने भक्ति की दार्शनिक

व्याख्या की तथा आचार्य रामानुज ने 'विशिष्टाद्वैतवाद' के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसमें जीव, ब्रह्म का एक विशिष्ट अंग होते हुए भी अपने पार्थक्य से भक्ति का अधिकारी बना ।

श्री रामानुजाचार्य के पश्चात् श्री निम्बार्काचार्य ने 'द्वैताद्वैतवाद' तथा श्री मध्वाचार्य ने 'द्वैतवाद' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया ।

दक्षिण से उत्तरा यात्रा में यह भक्ति की लहर जब महाराष्ट्र पहुंची, उस समय वहां शैव सम्प्रदाय का प्रभाव वर्तमान था । नाथ सम्प्रदाय की साधना में पोषित होने वाले शैव-धर्म का ज्ञान और योग, भक्ति के लिए अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि इस नाथ सम्प्रदाय ने सहज ही शिव को आदि नाथ मानकर ज्ञान और योग में अपनी साधना का रूप निर्धारित कर लिया था । सन् १२०६ई० में 'विट्ठल सम्प्रदाय' की स्थापना हुई जिसमें शैव सम्प्रदाय तथा वैष्णव सम्प्रदाय का मिश्रित रूप प्राप्त होता है । इस सम्प्रदाय वाले विष्णु और शिव में कोई अन्तर नहीं मानते । नामदेव (जन्म १२७०ई०) ने विट्ठल की उपासना में नामस्मरण का महत्व प्रदर्शित किया । इस प्रकार इस सम्प्रदाय में हृदय की शुद्धता, नामस्मरण तथा जाति बन्धन की शिथिलता पर बल दिया गया ।

कालान्तर में जब यह भक्ति-आन्दोलन महाराष्ट्र और गुजरात से होता हुआ उत्तर भारत में पहुंचा तो 'राम-भक्ति' और 'कृष्ण-भक्ति' नामक भक्ति की दो नवीन धाराएं प्रवाहित हुईं । राम भक्ति की पुनः निर्गुण तथा सगुण दो शाखाएं प्रचलित हुईं, जिसमें सन्त कबीर ने 'राम' के निर्गुण, निराकार रूप तथा गोस्वामी तुलसीदास ने सगुण, साकार रूप की आराधना प्रारम्भ की ।

इस प्रकार दक्षिण से उठने वाली भक्ति की जो धारा उत्तर तक आते-आते विभिन्न बाधाओं से टकराकर अपनी शक्ति छिन्न-भिन्न कर चुकी थी, वह फिर अपने नवीन रूप में व्यवस्थित हुई ।

(घ) शोधगत दृष्टिकोण और सामग्री-संचयन

यों तो भक्ति की परिकल्पना वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में बहुत पहले ही हो चुकी थी, तथापि उसका जन-व्यापी आन्दोलन ईसा की छठवीं शताब्दी में आलवार गायकों द्वारा प्रारम्भ हुआ । इन आलवार संतों ने भक्ति के रागात्मक तत्व को ग्रहण कर, मधुर गीतों की रचना की तथा भक्ति का प्रचार किया । इनके इष्ट-देव सगुण-रूप-धारी नारायण थे । इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं प्रेमी और प्रेमिका के बीच होने वाले संयोग और वियोग के शृंगार भाव का भी सरस वर्णन है । परमात्मा को नायक (प्रियतम) मानकर तथा स्वयं को नायिका (प्रियतमा) बनाकर इन्होंने मिलन और विरह के अनेक मर्मस्पर्शी चित्र खींचे हैं । इस प्रकार यह भक्ति की विमल धारा जब दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित हुई तो इसे विभिन्न सम्प्रदायों का सामना करना पड़ा । परिणामस्वरूप इसके मूलरूप में विभिन्न संशोधन तथा परिवर्तन होते चले गये । संत सम्प्रदाय के रूप में आते-आते इस भक्ति में बहुत कुछ परिवर्तन हुए । संतों ने निर्गुण तथा सगुण से परे ब्रह्म की परिकल्पना की --

'निर्गुण की सेवा करो, सगुण को धरो ध्यान ।
निर्गुण सगुण से परे , तहां हमारो ज्ञान ।।'

भक्ति के क्षेत्र में संतों की नवीन देन है --'ज्ञान और योग' का भक्ति से समन्वय । इसीलिए संत कबीर को ज्ञानाश्रयी शाखा का प्रवर्तक भी कहा गया है ।

ज्ञान और योग के आधार पर ही संतों ने निर्गुण, निराकार इष्ट की उपासना की । यद्यपि भक्ति का आलम्बन वे नहीं छोड़ सके, भक्ति, व्यक्तित्व बोध की अपेक्षा रखती है । रूप-गुण रहित निराधार भक्ति सम्भव नहीं । जब तक किसी वस्तु का रूप प्रत्यक्ष नहीं दिखलाई पड़ता, तब तक उसकी भक्ति कैसे की जा सकती है ? इसीलिए पूर्ववर्ती सभी भक्तों ने सगुण रूप ब्रह्म की उपासना की, किन्तु संतों ने मानसिक भक्ति पर बल देकर विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से निर्गुण, निराकार इष्टदेव के साथ तादात्म्य स्थापित कर भक्ति की भाव-भूमि पर अवतरण किया ।

किन्तु इन संतों ने अवतार, मूर्ति, तीर्थ-व्रत, माला आदि का खण्डन किया और शून्य, काया-तीर्थ, सहज-समाधि, योग जिसके अन्तर्गत हठयोग है, पर बल दिया । साथ ही जीवन की स्वाभाविक अन्तःकरणजनित श्रद्धा और रागात्मिका वृत्ति की प्रधानता स्वीकार की ।

इन सन्तों ने ज्ञान का आश्रय लेकर आत्म-चिन्तन के आधार पर इसमक्ति में रहस्यवाद की अनुभूति उत्पन्न की । इस प्रकार इन संतों ने ज्ञान और योग से भक्ति का संयोजन किया । ज्ञान, योग और भक्ति साधना के अलग-अलग मार्ग हैं । इनका संयोजन किस रूप में किया जा सकता है, इसका मर्म संतों की वाणी में है । अभी तक इस दिशा में विशेष कार्य नहीं किया गया । सन्तों के रहस्यवाद पर डा० रामकुमार वर्मा ने अवश्य प्रकाश डाला है, किन्तु वे अपने व्यस्त क्षणों में अधिक विवेचन नहीं कर सके । यह दायित्व सम्भवतः मुझपर है कि मैं इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करूं । ज्ञानऔर योग से प्रेरित सन्तों ने भक्ति के क्षेत्र में किस प्रकार कितना योग दिया है, यह मेरे शोध का दृष्टिकोण है, जो आपके समक्ष प्रस्तुत है ।

-o-